स्वाधीन भारत के दो दशक पहले : हिंदी साहित्य में मोहभंग

डॉ. धनंजय सिंह
सहायक प्रोफेसर (हिंदी),
डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन आर्ट्स गवर्नमेंट कॉलेज,
यानम- 533464, पॉन्डिचेरी

शोध-सारांश:
प्रस्तुत लेख भारतीय स्वाधीनता के शुरूआती बीस वर्षों के दरम्यान लोकतान्त्रिक मूल्यों की गिरावट को हिंदी साहित्य में अभिव्यक्ति किस रूप में दर्ज़ हुई, उसी को जानने का प्रयास करता है। दरअसल भारत की स्वाधीनता के पहले दो दशक का हिंदी साहित्य लोकतंत्र के लगातार छीजते जाने और संकट में पड़ते जाने का साहित्य है। उस दौर में हर तरफ़ लोगों के सपनों, आशाओं और आकांक्षाओं के टूटने और बिखरने की अनुगूँज सुनाई देती थी। जहाँ ईमानदारी, सच्चाई, भाईचारा, अहिंसा, आज़ादी इत्यादि सब अपना अर्थ खो चुके थे। यह वह समय था जब 'सहानुभूति और प्यार के नाम पर एक आदमी दूसरे को, अँधेरे में ले जाता और उसकी पीठ में छुरा मार देता है'।

बीज-शब्द:
मोहभंग, हिंदी, नई कविता, लोकतंत्र, राजनीति इत्यादि

मोहभंग एक ऐसी स्थिति है जो स्वतंत्र भारत की राजनीति विशेष तौर पर नेहरुवादी सामाजिक-आर्थिक परियोजनाओं की विफलता से पैदा हुई, परन्तु यह अचानक से आयी स्थिति नहीं थी, बल्कि स्वाधीनता के बाद से ही इस स्थिति के उत्पन्न होने के अंकुर फूटने लगे थे। इतिहास की अशांत, पेचीदा और निर्णायक घटनाओं से गुजरते हुए 1947 में आज़ादी मिलने के साथ हमारे स्वाधीन भारत की रचना हुई और इस रचना में माना गया कि अंग्रेजी राज के खिलाफ भारतीय जनता के स्वाधीनता संग्राम के नेतृत्त्व का श्रेय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस है। काफी हद तक बात सही है लेकिन कांग्रेस के वर्गीय चरित्र की अधिक चर्चा नहीं की जाती है। सन 1947 पहले के तमाम आंदोलनों में कई क्रांतिकारी शक्तियों का योगदान था। अपने जातिवादी और सांप्रदायिक भेद-भाव को भुलाकर जनता ने एकजुटता का परिचय दिया था। वह अपने आप में बेमिसाल है। बड़े उत्साह और मनोयोग के साथ देश का संविधान निर्मित हुआ। इसके अंतर्गत भारत की संसदीय प्रणाली के तहत गणतंत्र प्रतिष्ठित हुआ। पहले आम चुनाव के साथ प्रत्येक राज्य में विधान सभाओं के साथ केंद्र में संसद अस्तित्व में आई। अपने चुने हुए प्रतिनिधियों से देश की आम जनता में खुशहाली की उम्मीदें मजबूत हुई। जमींदारी उन्मूलन के जरिये खेतों पर काबिज़ काश्तकारों को जमीन दी गई। संविधान की भूमिका में प्रस्तावित राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के तहत बहुत प्रदेशों में ग्राम पंचायत व्यवस्था कायम हुई। इससे एक आशा और विश्वास का वातावरण समूचे देश में व्याप्त हुआ।

प्रधानमंत्री जवाहरलाल के नेतृत्व में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर देश की एक नयी छवि बनी। बदुंग कांफ्रेंस, कोलंबो प्लान, सहअस्तित्व, पंचशील, भारत-चीन मैत्री सम्बन्ध, रूस के साथ सुरक्षा-समझौता और आर्थिक सम्बन्ध, गुटनिरपेक्षता की नीति के माध्यम से पं. नेहरू ने भारत को विश्व के नक़्शे पर एक महत्वपूर्ण राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित किया। लेकिन यह सब सिक्के के एक पहलू हैं, उसका दूसरा पहलू काफी अलग है। बेशक इस दूसरे पहलू के सन्दर्भ में भी काफी अध्ययन हो चुका है, बावजूद इसके लगता है कि स्वाधीनता के पहले दशकों में संकट में राष्ट्र के बारे में अभी कुछ बाकी है। जिसके बारे में पढ़ा-लिखा जाना चाहिए। मैं अपना वक्तव्य अब भी 'कुछ बाकी' के कुछ साहित्यिक चित्रण पर केन्द्रित करूँगा।

हम जानते हैं कि 1947 ई। की स्वाधीनता के बाद भारत की स्वाधीन सरकार ने मिश्रित अर्थव्यवस्था की आड़ में देश के विकास के लिए जो पूंजीवादी रास्ता अपनाया, उससे देश की आम जनता, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्र की जनता की बदहाली बढ़ती गई। भारतीय अर्थतंत्र पर अंग्रेजों और उनके सामंती तथा इज़ारेदार सहायकों के प्रभुत्व को समाप्त किये बिना देश की जनता का आर्थिक विकास दिन दिन में तारे देखने जैसा हुआ। इसके चलते देश की जनता की आर्थिक उन्नति तो दूर रही, अवनति को रोकने का संघर्ष और अधिक कठिन हो गया। सत्ता जनता के एक बहुत बड़े समुदाय से कटकर एक सीमित वर्ग के हाथों में केंद्रित हो गई। स्वाधीनता आंदोलन की मूल कारक शक्ति जनता थी, वही उपेक्षित हो गई। सेना, पुलिस, नौकरशाही, न्यायव्यवस्था आदि के रूप में राजसत्ता पूंजीवादी व्यवस्था का अंग बनी। भारत जैसे धर्म बहुल देश में धर्मनिरपेक्षता की नीति समाज निरपेक्षता के रूप में प्रतिफलित हुई। फलस्वरुप समाजसुधार संबंधी कार्य अधूरे रह गए। इससे समाज की विघटनकारी शक्तियों को खुलकर खेलने की छूट मिली। जगह-जगह जातीय व सांप्रदायिक दंगे हुए, आज़ादी मनमानी लूट-खसोट की पर्याय बन गई। संप्रदायवाद, जातिवाद, भाई-भतीजावाद को निजी ही नहीं, सार्वजानिक संस्थानों से भी बढ़ावा मिला। पंचवर्षीय योजनाओं, पंचायत व्यवस्था, जमींदारी उन्मूलन, भूदान आंदोलन के लाभ से साधारण किसान जनता वंचित रही। सहकारी समितियों, विकासखंडों की स्थापना का लाभ ग्रामीण क्षेत्र के मुट्ठी भर प्रभावशाली संपन्न व्यक्तियों और नौकरशाही द्वारा उठाया गया। लेकिन इस ताम-झाम का पूरा बोझ आम आदमी के सिर पर पड़ा।

1947 में सत्ता परिवर्तन होते ही कांग्रेस पार्टी ने व्यवस्था परिवर्तन की बात करनी छोड़ दी। समाजवाद का लुभावना नारा जरूर लगाती रही। लेकिन शासन व्यवस्था उसे उपनिवेशवादी ही रास आई। इसलिए स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्त्व करने वाली कांग्रेस पार्टी और 1947 के बाद शासन करने वाली शासक पार्टी के रूप में कांग्रेस की दो अलग भूमिकाएं है।

अगर इसे साफ़ साफ शब्दों में कहें तो 1947 में सत्ता परिवर्तन होते ही कांग्रेस पार्टी ने व्यवस्था परिवर्तन की बात करनी छोड़ दी। समाजवाद का लुभावना नारा जरूर लगाती रही। लेकिन शासन व्यवस्था उसे उपनिवेशवादी ही रास आई। इसलिए स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्त्व करने वाली कांग्रेस पार्टी और 1947 के बाद शासन करने वाली शासक पार्टी के रूप में कांग्रेस की दो अलग भूमिकाएं है। हालाँकि आज़ादी से पहले ही कांग्रेस की भूमिका में स्वाधीनता के बाद वाली भूमिका के बीज मौजूद थे। जिसे फनीश्वरनाथ रेणु ने सन 1954 में लिखित अपने उपन्यास मैला अंचल में संकेत किया है। उपन्यास में हम देखते हैं कि 1948 के तुरंत बाद आदिवासी संथालों को सजा होती है। चलितर कर्मकार को वारंट भी वापस नहीं होते, सबसे ऊपर यह कि गाँव में बेहद लोकप्रिय डॉ. प्रशांत कुमार को शासक कांग्रेस द्वारा गिरफ्तार कर जेल भी भेजा दिया जाता है। रेणु ने अप्रैल 1948 के आसपास उपन्यास का अंत किया है और सत्ता परिवर्तन के 8-9 महीने में ही कांग्रेस पार्टी को एक शोषक रूप में अच्छी तरह उद्घाटित कर दिया है। कांग्रेस शासन में ताकत व कालाबाजारी कांग्रेसी दुलारचंद कापरा जैसे लोगों के पास है। सत्ता के तंत्र वही हैं- पुलिस इंस्पेक्टर इत्यादि और यही कापरा अपने कालाबाज़ार के धन्धे के लिए गाँधी के सहादत के दिनों में ही गाँधी के प्रिय शिष्य बावनदास को भी गाड़ियों के नीचे जिन्दा ही कुचलवा डालता है। बावनदास की मृत्यु को रेणु ने हिन्दुस्तान के एक बड़े मूल्य व विचार के हत्या के रूप में देख लिया था- "बावन ने दो आज़ाद देशों की, हिंदुस्तान और पकिस्तान की, ईमानदारी को, इंसानियत को, बस दो डेग में ही नाप लिया।" बावनदास के हत्यारे आज़ादी के बीस वर्ष के भीतर ही खुलकर समाज, राजनीति व शिक्षा के ठेकेदार बनकर उभरते हैं। हम इन्हें श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास रागदरबारी में देख सकते हैं। उपन्यास के फ्लैप पर बहुत महत्वपूर्ण पंक्तियाँ लिखी गई हैं, शिवपालगंज की पंचायत, कॉलेज की प्रबंध समिति और कोऑपरेटिव सोसाइटी के सूत्रधार वैद्य जी साक्षात् वह राजनीतिक संस्कृति है, जो प्रजातंत्र और लोकहित के नाम पर हमारे चारों ओर फल-फूल रही है। उपन्यास का एक मुख्य पात्र है- रंगनाथ। उसके मनोदशा का चित्रण करते हुए श्रीलाल शुक्ल ने लिखा है- "सनीचर की विजय के दिन उसने बहुत सोच डाला और उस दौरान उसे प्रदेश की राजधानियों में न जाने कितने वैद्यजी और मुख्यमंत्रियों की कतार में न जाने कितने सनीचर घुसे हुए दिख पड़े।" रंगनाथ के बहाने उपन्यासकार का यह कथन देश की जनतांत्रिक प्रणाली पर एक गहरा कटाक्ष है। एक तरफ़ वैद्यजी जैसे लोग सताधारी हैं और दूसरी तरफ़ जनता हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि राष्ट्रगीत में यही वैद्यजी जैसे लोग ही भारत के भाग्य-विधाता हैं, जो अधिनायक हैं, जिन्हें पहचानने के लिए रघुबीर सहाय ने अपनी कविता 'अधिनायक' में सवाल पूछा था कि-

"राष्ट्रगीत में भला कौन वह
भारत-भाग्य-विधाता है
फटा सुथन्ना पहने जिसका

गुन हरचरना गाता है
मखमल टमटम बल्लम तुरही
पगड़ी छत्र चँवर के साथ
तोप छुड़ा कर ढोल बजा कर
जय-जय कौन कराता है।"

इस कविता को पढ़ते हुए एक महत्वपूर्ण सवाल उभरता है कि लोकतंत्र का रखवाला आखिर अपना जय-जय कराने वाला इतना ताकतवर और खूंखार क्या आज़ादी के मात्र बीस वर्षों के दौरान ही हुआ, क्या वह मात्र साम्राज्वाद और पूंजीवाद का ही उत्तराधिकारी था, मुझे लगता है कि उसे भारतीय समाज व्यवस्था के सामंतवादी मानसिकता में भी खोजना होगा। लोकतंत्र के विफलता के कारणों में सामंती सोच के सन्दर्भ में आलोचना के क्षेत्र में बहुत कम अध्ययन हुआ। मुझे लगता है कि भारतीय लोकतंत्र के सफल न होने के वजहों में यहाँ की राजनीति और नौकरशाही की अपनी वर्गीय और सामाजिक पृष्ठभूमि की बड़ी भूमिका है। ये दोनों यानी नेतृत्व और तंत्र अपने अतीत के संस्कारों से ऊपर उठ ही नहीं पाए। लोकतंत्र के इस अधूरेपन से भारतीय राजनीति में राममनोहर लोहिया लगातार लड़ते रहे। यही वजह भी है कि तत्कालीन साहित्यकारों को सबसे अधिक लोहिया ने ही प्रभावित किया था।

भारतीय लोकतंत्र में मोहभंग को गहरा करने में दो महत्वपूर्ण घटनाओं की बड़ी भूमिका है- पहली, भारत-चीन की लड़ाई और दूसरी, सन 1967 के चुनाव में कांग्रेस की हार। तब भारत एक भयंकर संकट से गुजर रहा था। मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' (1963 ई।) में 'एक लंबी कविता का अंत' शीर्षक के अंतर्गत लिखा है, "ऐसी स्थिति में जबकि समाज में संजीवनकारी उत्प्रेरक आंदोलन या ऐसी संगठित शक्ति नहीं है, एक संवेदनशील मन जिसमें अब तक अवसरवादी कौशल और लाभ-लोभ की समझदारी विकसित नहीं हुई है, केवल अपने को निस्सहाय महसूस करता है। यदि वो कवि होता है तो सहज मानवीय आकांक्षाओं के सामाजिक वातावरण के अभाव में उसके काव्यात्मक रंग अधिक श्यामल, अधिक बोझिल और अभावग्रस्त हो जाते हैं।" लेकिन रघुवीर सहाय अपनी कविता 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' में साफ शब्दों में कहते हैं-

"बीस बरस बीत गए
लालसा मनुष्य की तिलतिल कर मिट गयी।।।
टूटते टूटते
जिस जगह आकर विश्वास हो जायेगा कि
बीस साल धोखा दिया गया
वहीँ मुझसे फिर कहा जाएगा
विश्वास करने को।"

जाहिर है, इस स्थिति का जिम्मेदार वह तंत्र और नेतृत्व था, जिसने आज़ादी के बाद सामाजिक आधारों को बदले बगैर 'लोकतंत्र' की कल्पना की थी। इस लोकतंत्र के हवाले से उसने जनता की मुक्ति और विकास का वायदा किया था। लेकिन समय बीतने के साथ ही इस तंत्र के लोकतान्त्रिक दावों की कलई खुलती गई और इन दावों का असत्य प्रकट होता गया-

"दूर.....
राजधानी से
कोई क़स्बा दोपहर बाद छटपटाता है,
एक फटा कोट, एक हिलती चौकी, एक लालटेन
दोनों, बाप मिस्तरी और बीस बरस का नरेन
दोनों पहले से जानते हैं पेंच की मरी हुई चूड़ियाँ
नेहरु युग के औज़ारों को
मुसद्दी लाल की सबसे बड़ी देन।"

कविता की इन पंक्तियों में रघुवीर सहाय 'मिस्तरी' बाप और 'बीस बरस के नरेन' के माध्यम से स्वतंत्र भारत में जी रहीं दो पीढ़ियों का मूल्यांकन कर रहे हैं, जो पेंच के कसने की मजबूरी में विफलता झेल रहें हैं। मरे हुए पेंच यानी अन्दर से घिसे हुए पेंच को आप कहीं भी कसे वह कसेगा नहीँ। लोकतंत्र और आज़ादी का ढांचा तो खड़ा किया गया परन्तु उस ढांचे को कसने वाला पेंच घिसा हुआ साबित हुआ। 'घिसे हुए पेंच' से तात्पर्य है- भारतीय नौकरशाही की वह मानसिकता है जो उसे सदियों से विरासत में मिली है। यही वह मानसिकता की विरासत जो लोकतंत्र के ढांचे को खड़ा नहीं होने देता है। अंततः यह भारतीय राष्ट्र को संकट की ओर ले जाता है। मुसद्दीलाल की जमातों ने अपने वर्गीय और सामाजिक स्वार्थों की कभी छोड़ा ही नहीं। इसीलिए आज़ादी के बीस साल बाद धूमिल को लोकतंत्र बेमतलब का लगता है-

"बीस साल बाद और इस शरीर में
सुनसान गलियों से चोरों की तरह गुज़रते हुए
अपने-आप से सवाल करता हूँ–
क्या आज़ादी सिर्फ़ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई खास मतलब होता है?"

आज़ादी के बाद दिखने वाले अंधेरे की घुटन अलग तरह की वेदना की तरह रिसती हुई सामने आती हैं। लेकिन मुक्तिबोध की अंतर्घनीभूत पीड़ा से बिल्कुल अलग धूमिल का बेहद मुखर आक्रोश कुछ इस तरह फूटता और हमसे टकराता है कि हम अपने भीतर एक झनझनाहट-सी महसूस करते हैं। मुक्तिबोध के 'अंधेरे में' के भीतर आधी रात को डोमाजी उस्ताद के पीछे-पीछे चलने वाले पत्रकार, सैनिक, ब्रिगेडियर, जनरल धूमिल की पटकथा में बिल्कुल परिभाषित कर दिए जाते हैं-

'वे वकील हैं।
वैज्ञानिक हैं।
अध्यापक हैं।
नेता हैं।
दार्शनिक हैं।
लेखक हैं।
कवि हैं।
कलाकार हैं।

यानी कि-
कानून की भाषा बोलता हुआ
अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।"

मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय के बाद धूमिल तब के जटिल समय के ताले खोलने वाली तीसरी बड़ी आवाज हैं। जो बम मुक्तिबोध के भीतर कहीं दबा पड़ा है और रघुवीर सहाय के यहां टिकटिक करता नजर आता है, धूमिल तक आते-आते जैसे फट पड़ता है।

जिस तरह मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, राजकमल चौधरी आदि कवि राजनीति से प्रभावित हुए उसी प्रकार समकालीन राजनीति का प्रभाव धूमिल पर भी प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है। धूमिल युवा वर्ग के रहे कवि हैं और वे स्वयं ये मानते थे कि युवा लेखन के लिए राजनीति से परिचित रहना बेहद जरुरी है। मोहभंग को नई कविता से अलग करके नहीं देखा जा सकता। हालाँकि धूमिल का मोहभंग नई कविता के कवियों से भिन्नता लिए हुए है। यह भिन्नता बहुत स्थूल न होकर सूक्ष्म है। नयी कविता के कवियों में मोहभंग से गहरी पीड़ा उत्पन्न होती है, लेकिन धूमिल को झटका तो लगता है परन्तु वे चीत्कार नहीं करते। वे तमाम चीज़ों को सहज रूप में लेते हैं। वे अपने को जनतंत्र और व्यवस्था पर केन्द्रित करते हैं और उसकी असलियत उजागर करते हैं।

"दरअसल अपने यहाँ जनतंत्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है।"

निष्कर्ष:

भारत की स्वाधीनता के पहले दो दशक का हिंदी साहित्य लोकतंत्र के लगातार छीजते जाने और संकट में पड़ते जाने का साहित्य है। तब के राष्ट्र को रघुवीर सहाय शब्दों में कह सकते हैं कि "लोकतंत्र मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमें इंसान की शानदार जिंदगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।" इस दौर में आज़ादी से मोहभंग का सिलसिला धूमिल तक आते-आते उफान पर था। यह विषम और भयावह परिस्थितियों तथा विसंगतियों का ऐसा काल था जहाँ हर तरफ़ लोगों के सपनों, आशाओं और आकांक्षाओं के टूटने और बिखरने की अनुगूँज सुनाई देती थी। जहाँ ईमानदारी, सच्चाई, भाईचारा, अहिंसा, आज़ादी इत्यादि सब अपना अर्थ खो चुके थे। यह वह समय था जब 'सहानुभूति और प्यार के नाम पर एक आदमी दूसरे को, अँधेरे में ले जाता और उसकी पीठ में छुरा मार देता है।' यह ऐसा समय था, जब सहज होना भी कठिन और दुर्लभ हो गया था। ऐसे समय में नक्सलवाडी जैसे आन्दोलन का जन्म होना लाजिमी था। कुल मिलाकर स्वाधीनता के बाद पहले बीस वर्षों का हिंदी साहित्य केवल नेहरू-युग की ही आलोचना नहीं है, बल्कि वह जैसी लोकतांत्रिक संरचना हमने बनाई है, उसके मूल अंतर्विरोधों और ख़तरों का भी साहित्य है।

हिन्दी और इसकी बोलियाँ सम्पूर्ण भारत के विविध राज्यों में बोली जाती हैं। भारत और अन्य देशों में भी लोग हिंदी बोलते, पढ़ते और लिखते हैं। फ़िजी, मॉरिशस, गयाना, सूरीनाम, नेपाल और संयुक्त अरब अमीरात में भी हिन्दी या इसकी मान्य बोलियों का उपयोग करने वाले लोगों की बड़ी संख्या मौजूद है। फरवरी २०१९ में अबू धाबी में हिन्दी को न्यायालय की तीसरी भाषा के रूप में मान्यता मिली।

'देशी', 'भाखा' (भाषा), 'देशना वचन' (विद्यापति), 'हिंदवी', 'दक्खिनी', 'रेखता', 'आर्यभाषा' (दयानन्द सरस्वती), 'हिंदुस्तानी', 'खड़ी बोली', 'भारती' आदि हिंदी के अन्य नाम हैं जो विभिन्न ऐतिहासिक कालखण्डों में एवं विभिन्न संदर्भों में प्रयुक्त हुए हैं। हिन्दी, यूरोपीय भाषा-परिवार के अन्दर आती है। ये हिन्द ईरानी शाखा की हिन्द आर्य उपशाखा के अन्तर्गत वर्गीकृत है।